धर्मतंत्र का सैद्धान्तिक आधार

प्रमोद कुमार दुबे

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् इत्यारभ्य धर्ममन्विष्य वेदेभ्यः सनातनधर्मस्य स्वरूपं निरूपयन् धर्मस्य मूलस्थापनायां सम्प्रदायानामावश्यकतां प्रतिष्ठायन् लेखकः अत्यन्तजटिलया अतिगभीरया च शैल्या लेखेऽत्र धर्मतन्त्रस्य विविधान् सैद्धान्तिकान् आधारान् प्रतिपादयति।

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०/९०) में 'प्रथम धर्म' का उल्लेख मिलता है– (यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् – ऋ. १०/९०/१६)। देवों ने यज्ञ (पुरुष) के साधन से जो यज्ञ किया, वह यज्ञ कर्म प्रथम धर्म है। सूक्त में बताया गया है कि 'देवों ने एक ऐसा पुरुष देखा, जिसके हजारों सिर हैं हजारों आँखें हैं और हजारों पाँव। वह भूमि को चारों ओर से घेरकर खड़ा है। उसका दस अँगुल भाग घेरे के भीतर है और शेष भाग घेरे से बाहर। उसका एक भाग भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकश नामक पंचतत्त्व हैं और शेष तीन भाग ऊपर द्युलोक में प्रकाश रूप है। वह पुरुष बीते दिनों में था, भविष्य में रहेगा और वर्त्तमान में है। जो कुछ भी है, जहाँ कहीं है, वह सब कुछ वही पुरुष है।"

पुरुष का अर्थ है, जो सबको पूरित करता है और जो पुर में रहता है (छान्दोग्य. ३/१२/६)। इस पुरुष में तीनों लिंग (स्त्री, पुं, नपुं,), और तीनों आवेश (धन, ऋण, उदासीन) हैं। यह सर्वत्र है, यह शून्य है, केवल एक है। यह पूर्ण है। इसके अकेले होने का कोई अर्थ नहीं होता, पर इसके बिना संख्याएँ शुरू नहीं होतीं। इसके भीतर नौ तक की संख्याएँ हैं। यह दस है, सौ है, हजार है। इसके साथ एकमात्र होने की विशेषता जुड़ी हुई है। यह तीनों काल में है और काल के बाहर भी।

सृष्टि की देव-शक्तियों ने पुरुष को यज्ञ के अधीन किया है। इसी से संवत्सर उत्पन्न हुआ। इसमें सात गतिमान ग्रहों की परिधियाँ हुईं। ग्रह-पिण्डों के मध्य समान किन्तु विपरीत वेगों में संतुलन बना, त्रिसप्त सूत्र के ज्यामितीय आकार में सतत स्थायित्व उत्पन्न हुआ और ब्रह्माण्ड रूपी शरीर सक्रिय हो गया। सूर्य इसकी आत्मा है और मन चन्द्रमा। संवत्सर का एक भाग उत्तरायण-देवों का दिन और दूसरा भाग दक्षिणायन-देवों की रात हुए। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के परिभ्रमण से जो वृत्त बनता है उसी में देव-शक्तियों की दिन-रात होती है। ब्रह्माण्डीय काया में यज्ञ होता रहता है। यहाँ छह ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है। इस यज्ञ में वसंत ऋतु घी है, ग्रीष्म ऋतु ईन्धन और शरद ऋतु हवि है। सृष्टि का यह यज्ञ कार्य प्रथम धर्म है। इस धर्म के अधीन देव समाज है, इस समाज का आर्थिक स्रोत विरल अवस्था में रहने वाले पंचतत्त्व हैं और उत्पादन हैं पंचतत्त्व प्रधान वृक्ष-वनस्पति, प्राण प्रधान पशु-पक्षी और मन प्रधान मनुष्य। साथ ही सबमें पंचतत्त्व, प्राण और मन हैं। यह स्थूल उत्पादन पृथ्वी के जीव-जगत के रूप में दिखाई दे रहा है।

प्रकृति के विविध उत्पादनों से धरती भरी हुई है। प्रकृति शब्द का अर्थ है, जो शक्ति काल को आकृति प्रदानप करे, आकर देकर बोधगम्य बना दे। संवत्सर भी काल को उत्पादित करता है। वह सूक्ष्म प्रकृति है। उसमें सृष्टि-यज्ञ चलता रहता है। इसलिए संवत्सर और उसके यज्ञ को प्रजापति कहा गया (संवत्सर एव प्रजापति – १/६/३/५ शत.ब्रा., संवत्सरो यज्ञः प्रजापति – १/२/५/१२ शत.ब्रा.)। सृष्टि रचना के धर्म-कार्य को प्रथम धर्म कहा जाता है। धर्म एक प्रक्रियात्मक शब्द है। इसके अर्थ में हमेशा सापेक्षता दिखती है–किस संदर्भ में धर्म? किसका धर्म? इसे स्वतंत्र परिभाषा में बाँधना उचित नहीं है। अन्यथा, यह जड़ हो जाएगा और काल बाह्य भी। यह सतत है, सनातन है। पूर्वमीमांसा सूत्र (१/१/२) ने धर्म को वेद द्वारा प्रेरित और अनुशंसित कार्य कहा है। यह परिभाषा ऋग्वेद में आए प्रथम धर्म की ओर इशारा करती है। पर, धर्म को सीमा में नहीं बाँधती। धर्म शब्द विज्ञान, संस्कार, कर्त्तव्य, आचार इत्यादि के अर्थों को अपने में समेट लेता है। यह अभ्युदय और निःश्रेयस् को – भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति दोनों को एक साथ फलित करने वाला प्रयत्न भी बनता है। धर्म के तीन स्कंध हैं (त्रयो धर्म स्कन्धाः - छान्दोग्य. २/२३/१)। पहला स्कंध यज्ञ है, दूसरा तप है और तीसरा आचार। ये एक दूसरे के पूरक हैं। धर्म शब्द का कोई पर्याय शब्द नहीं हो सकता। इसका अनुवाद करना पाप है। क्योंकि अनुवाद से इसके अर्थ की हत्या हो जाती है और इसके अर्थ के प्रकाश से रहित मनुष्य अंधा। धर्म शब्द की अर्थ-व्याप्ति यज्ञ के समान ही अणु से लेकर ब्रह्माण्ड

तक है। अणु से महत् सृष्टि तक धर्म के साथ सर्वत्र दसांगुल पुरुष उपस्थित है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ यज्ञ और पुरुष का रहना आवश्यक है। प्रथम धर्म इन्हीं दोनों का कार्य है।

पृथ्वी यज्ञरता है। पृथ्वी में धर्म है। पृथ्वी पुरोधाता है, इसके अन्तस् की अग्नि पुरोहित। पंचतत्त्व पुरोधाता है, पंचतत्त्वों की रश्मियाँ पुराहित। पृथ्वी की गति संवत्सर की भाँति चक्रात्मक और यज्ञात्मक दोनों है। यह क्षैतिज दिशा में एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौटती है, बाहर के सोम को खींचकर अपने अग्नि-पात्र में हवन कर देती है। यह अपने पुर को पूरित करती रहती है। इसमें निरंतर यज्ञ क्रिया चलती रहती है। यह द्युःलोक में व्याप्त सविता को आवाहित करती है। सविता इसकी वरेण्य है, आवाहनीयाग्नि है। सविता मन की अधिष्ठात्री है। 'सव' का अर्थ है मन। सविता दसों इन्द्रियों में मन को संचालित करती है, प्रत्येक प्राण-केन्द्र को जाग्रत करती है, देव-शक्तियों की योजक-प्रबन्धक है। इसे पृथ्वी मनुहार कर अपने भीतर बुला लेती है। पृथ्वी के रगों में उतरी हुई सविता की सावित्री रश्मियाँ गायत्री कही जाने लगती हैं। सावित्री का कार्य-क्षेत्र सूक्ष्म और व्यापक है। इसके प्रभाव से काल के अश्व सात रश्मियों के रूप में दौड़ते हैं। वही आगे चलकर स्थूल आकार ग्रहण कर लेते हैं। सावित्री पंचतत्त्वों की रश्मियों का संयोजन करती है और गायत्री पार्थिव पंचतत्वों का संयोजन। पार्थिव सृष्टि-वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य गायत्री की सृष्टि हैं। इन दोनों शक्तियों का छन्द एक ही है, केवल अवस्था भेद से इन दोनों में अन्तर है। पृथ्वी द्वारा सविता का आवाहन और उससे आत्मसंवर्धन का कार्य पृथ्वी का यज्ञ-कर्म है। यज्ञ की गति ऊर्ध्व और क्षैतिज दो गतियों में सृष्टि सक्रिय है। इतिहास और स्मृतियाँ क्षैतिज गति से संग्रहित होते हैं; वेद और ज्ञान-विज्ञान ऊर्ध्व गति से संचित किये जाते हैं। स्मृति पुरोधाता है। श्रुति (वेद) पुरोहित। विश्व जीवन की व्यवस्था इन दोनों से हो पाती है।

ब्रह्माण्ड की संचालक-शक्ति की जो भूमिका पृथ्वी के संदर्भ में प्रकट होती है उससे विश्व-जीवन प्रभावित होता है। समाज व्यवस्था संवत्सर के ऋतु परिवर्त्तन से प्रभावित होती है इससे समाज का अर्थ तंत्र प्रभावित होता है। इसलिए सनातन धर्म में पृथ्वी के जीवन-यज्ञ को पूरी तरह अनुसरण करने का प्रयास किया गया है। पृथ्वी के यज्ञ में सूर्य (सविता) आवाहन की अग्नि है, चन्द्रमा दक्षिणाग्नि और पृथ्वी की अग्नि गार्हपत्य अग्नि है। इन तीनों अग्नियों में एक क्रमिक संबंध है। यज्ञ का विज्ञान ज्योतिष से समझा जा सकता है। ब्रह्माण्ड के ग्रह पिण्डों से शरीर का संबंध किस प्रकार है? इसकी व्याख्या ज्योतिष करता

है। यह प्राकृतिक व्यवस्था है। इससे मनुष्य अपनी क्षमताओं के विकास में सहयोग ले सकता है, साथ ही मनुष्य एक स्वतंत्र सत्ता भी है। वह अपनी इच्छा का संसार बन सकता है। क्योंकि उसके शरीर रूपी पुर में भी दस अंगुल का यज्ञ-पुरुष उपस्थित है।

यदि मनुष्य पृथ्वी के यज्ञ कर्म को अपने जीवन से जोड़कर कार्य करता है, उसे प्रकृति का सहयोग मिल पाता है। लेकिन जब वह भौतिक विकास के लिए प्रकृति और उसके नियमों की उपेक्षा करता है, तब वह अपने सर्वनाश को बुलावा दे रहा होता है। भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था वेद में बताए गए प्रथम धर्म के अनुरूप स्थापित हुई। आज भी यह व्यवस्था है, परंतु इसके आधार की साफ सुथरी व्याख्या चुनौती बनी हुई है। इसका पहला कारण है वेद की समुचित व्याख्या का अभाव। उसकी तप-साधना और आचारों का क्षरण। वेद द्वारा स्थापित वर्णाश्रम धर्म को रूढ़ होकर जातियों में परिवर्ति हो जाना और यज्ञ के युगीन विधान से निरंतर संस्कार के कार्यों का नहीं होना। इन दुर्व्यवस्थाओं के पीछे ऐतिहासिक कारण है। फिर भी सनातन कभी रुकता नहीं, कभी नष्ट नहीं होता। जैसे पृथ्वी कभी रुकती नहीं, सृष्टि में व्याप्त ब्रह्मनाद ओंकार कभी रुकता नहीं।

वेद की त्रयी-विद्या सृष्टि में निरंतर गतिमान है। वह सविता आज भी पृथ्वी के बुलावे पर आ रही है, पृथ्वी के चौबीस घंटे के काल छंद गायत्री में प्रविष्ट होकर इसकी प्राण-ऊर्जा का पोषण कर रही है। प्रथम यज्ञ कर्म से प्रथम धर्म को उत्पादित करने वाली देव-शक्तियाँ सृष्टि में व्याप्त हैं। उपनिषद कहता है, एक बार मृत्यु ने देवताओं का पीछा किया। देवता मृत्यु से बचने के लिए वेदों के छन्द में छिप गए। मृत्यु उन्हें खोजती हुई आई। उसने छंद में छिपे देवताओं को ऐसे देखा, जैसे मछली मारने वाला मछेरा जल के भीतर मछलियों को देख लेता है। देवता मृत्यु को देख डर गए। वे वेद के छन्दों को छोड़ ओंकार में प्रवेश कर गये। ओंकार सृष्टि का मूल है। उसमें मृत्यु कैसे प्रवेश करती, उसका भी अन्त हो जाता, वह लौट गई। आख्यान बताना चाहता है कि ओंकार में भी अन्त है, समाधि है। पर, वह सृष्टि का बीज है। उसमें प्रवेश पाकर मृत्यु से बचा जा सकता है और पुनः सृष्टि की जा सकती है। पर, मृत्यु के मुँह में जाकर इच्छित सृष्टि का विस्तार करना संभव नहीं है। सनातन धर्म मृत्यु के अंधकार की ओर नहीं, बल्कि ओंकार से प्रकाश की ओर प्रेरित करता है जो सृष्टि में शाश्वत रूप से व्याप्त है। ज्यों-ज्यों मृत्युदायी आक्रांता कोलाहल थमने लगता है, ओंकार का शंख नाद सुनाई देने लगता है, वेद की त्रयी विद्या प्रकट भूमिका में गोचर होने

लगती है। इस प्रकार सृष्टि के प्रथम यज्ञ की सूक्ष्म व्याप्ति सदैव बनी रहती है। मृत्यु सदृश प्रलय भी – चाहे वह पाँच भौतिक हों या ऐतिहासिक, मृत होने वाले पदार्थों को ही मृत कर सकता है, अमृत कभी मृत नहीं हो सकता।

पुरुष सूक्त (ऋ. १०/९०) में बताया गया पुरुष अमृत है और चूँकि वह अन्न से विकसित होता है, उसमें अमृत ओर मृत दोनों पदार्थ हैं। वह आध्यात्मिक और भौतिक दोनों ऐश्वर्यों की केन्द्रीय सत्ता है। उसके दशांगुल विराट देह के चार भाग होते हैं। उसके मुख से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), जंघे से वैश्य और पाँव से शूद्र वर्णों की उत्पत्ति होती है। इस कथन को बिना ठीक-ठीक समझे समाज में आरोपित करना न उचित है, न आवश्यक। जाति वाली वर्णाश्रमी व्यवस्था प्रवृत्ति वाली वर्णव्यवस्था को क्षतिग्रस्त करती है। प्रत्येक जातियों में चारों प्रवृत्ति के व्यक्ति हो सकते हैं। हर जगह अर्थाकांक्षी व्यक्ति विचारशील व्यक्तियों को क्षतिग्रस्त करने में सफल हो सकता है। 'अपनी इच्छाएँ व्यक्ति को वंचित करती हैं। क्योंकि विचार उदान प्राण का विषय है और दैहिक इच्छा अपना प्राण का विषय। व्यक्ति के भीतर भी दृश्यमान अर्थकारी कार्यों का दबाव अधिक बना रहता है और वैचारिक कार्यों की उपेक्षा हो जाती है। यही स्थिति दैहिक स्तर पर, परिवार स्तर पर और जातियों, वर्गों, संगठनों, राजनीतिक पार्टियों, संस्थाओं सहित अन्य कार्य समूहों में साफ-साफ दिखाई देती है।

वर्ण संयोजन समाज से पहले व्यक्ति की अपनी देह का विषय है। विराट दस में जो चार है वह स्वभाव से ही अद्‌भुत है। इसे छान्दोग्यपनिषद (४/३/८) में भी कृत कहा गया है। यह चौपड़ की बिसात है। यह प्राणों में है, प्रवृत्तियों में है, मनुष्य देह में है और गणित में है तो ज्यामिति में भी है। वेद द्वारा उत्पादित दस के गणित से संसार अपना हिसाब-किताब चला रहा है। लेकिन, वेद का ऋण तथाकथित विकसित विश्व चुकाने को तैयार नहीं है। वह आज भी यही चाहता है कि वेद हमें दे सकता हो तो दे दे, लेकिन भूलकर भी किसी से यह न कहे कि वह दाता है। उसके सांस्कृतिक अस्तित्व में वर्चस्व की कोई क्षमता भी है। यही प्रवृत्ति 'अपानी' प्रवृत्ति है, अर्थाकांक्षी भोगवादी प्रवृति है, पतनोन्मुख प्रवृति है और यही मृत्यु-उन्मुख प्रवृति भी है। जिस समाज में, जाति में, संस्था में, परिवार और देह में अमृत का मान नहीं है, विचार की प्रतिष्ठा नहीं है, उसका विकास चाहे जितना दिखता हो-मृत है, अंधकार है। विश्व बाजार में अपानी अर्थकारी शक्तियों के हाथों बिकने वाले विचारकों-चिन्तकों, वैज्ञानिकों का उपयोग किस दिशा में हुआ? सृजन में हुआ या ध्वंस में? चतुर्वर्ण के मानदण्ड पर विचारना चाहिए कि इस धूत क्रीडा में कौन जीत रहा है? यदि शकुनी जीत

रहा है तो कौरव-पाण्डव निश्चित रूप से महाभारत के युद्ध की ओर बढ़ रहे हैं। सर्वनाश संभावित है। चतुर्वर्ण की उत्पत्ति दस संख्यक विराट से होती है। इस सूत्र की जातियों के उठा-पटक में उलझाकर रखने की जरूरत नहीं है। इसका प्रयोजन बड़ा है। इसकी व्याख्या का क्षेत्र सम्पूर्ण विश्व-जीवन और उसकी व्यवस्था होना चाहिए।

दस संख्यक विराट से उत्पन्न चार संख्यक व्यवस्था का सूत्र कैसे क्रियाशील होता है? अर्थाश्रित समाज विचाराश्रित समाज को क्यों क्षतिग्रस्त करता है? इनमें संतुलन का कोई मार्ग है अथवा यही प्रकृति का नियम है? इन प्रश्नों का उत्तर भी चार संख्यक व्यवस्था की शक्ति संरचना में निहित है। प्रत्यक्ष रूप से योग की सामान्य क्रियाओं द्वारा जैसे व्यक्ति अपना स्वास्थ्य संतुलित करता है, जीवन शैली बदलता है, चित्त की वृतियों को समायोजित करके अपना व्यवहार संयमित कर लेता है, वैसे ही प्राणों के संयम से विश्व-जीवन को दुर्व्यवस्था से मुक्ति दिलाई जा सकती है।

विराट यज्ञ-पुरुष में स्वयं योग सक्रिय है। मनुष्य देह में दस इन्द्रियाँ हैं और द्विगुणित रूप में पाँच प्राण है। दस इन्द्रियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ। इन्हें संचालित करने वाले प्राण भी दस होते हैं। इनका वर्गीकरण पाँच में किया गया है इन प्राणों के चार क्रियाशील भाग हैं– उदान, व्यान, समान और अपान। समान-अपान देह के अधोभाग में और व्यान-उदान ऊर्ध्वभाग में स्थित हैं। बाहरी प्रकृति में भी जल, भूमि अधोभाग और अग्नि-वायु ऊर्ध्वभाग एक ही क्रम में व्यवस्थित हैं। समान और अपनान वैश्य और शूद्र प्रवृतियों के कारक हैं, उदान और व्यान ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रवृतियों के कारक। देह की आन्तरिक प्रकृति और बाह्य जगत की प्रकृति दोनों में चारों प्राणों की भूमिकाएँ भी एक प्रकार की हैं। देह में दृश्यमान अर्थकारी कर्मों की प्रवृतियाँ समान और अपान प्राणों से प्रेरित होती हैं। भूमि और जल की तरह ठोस अनुभवगम्य उपलब्धियों को ही सामान्यत: देखा और जाना जाता है। बाजार की आर्थिक शक्ति सबको प्रभावित करती है। क्योंकि प्राण देह पर टिके हुए हैं देह अन्न इत्यादि जरूरतों पर टिकी हुई है और इन्हीं जरूरतों पर बाजार लगा हुआ है।

अर्थ शक्ति का सबसे अधिक दबाव शहरी जीवन पर पड़ता है। शहर का विकसित रूप अर्थाश्रित होता है। गाँव प्रकृति और बाजार के बीच की व्यवस्था है और अन्य जीवन पूर्णत: प्रकृतिजीवी व्यवस्था। यह वर्गीकरण भारती की पुरानी व्यवस्था में स्पष्ट रूप से था और इसका नियमन भी राज्य द्वारा किया जाता था। किन्तु, अभी शहर गाँवों को निगलता जा रहा है। साथ ही शहर गाँव

को अर्थाश्रयी बनाकर विकसित करने का उलटा दावा भी कर रहा है। इससे चारित्रिक ह्रास, वैचारिक पतन हो रहा है। शहर को अपने स्वरूप का बोध होना चाहिए कि वह वस्तुतः है क्या? समान और अपान प्राणों की प्रवृतियाँ ही शहर का मूल चरित्र गढ़ती हैं। भोग और उत्पादन की प्रवृतियों में सब कुछ झोंक देने का अर्थ है– दो ऊर्ध्व प्राणों व्यान और उदान की अवहेलना, जिनमें अमृत प्रधान प्रवृतियाँ हैं, विचारशील उदात्त प्रवृत्तियाँ। इनसे वंचित होकर समाज-व्यवस्था पतन की ओर बढ़ती जाती है। विचित्रता यह भी है कि समान और अपान अधोप्राणों की प्रवृत्तियों के बिना उदान और व्यान ऊर्ध्व प्राणों की प्रवृत्तियों को दृश्यमान अस्तित्व नहीं मिलता।

इन चारों प्राणों के संवर्ग को मूल प्राण से ही अमृत प्राप्त होता है। इसी प्रकार का संबंध पाँच ज्ञानेन्द्रियों का पाँच कर्मेन्द्रियावें से और पंचतत्वों का संबंध भी उनकी रश्मियों से है। घन, तरल और विरल अवस्थाओं का एक-दूसरे से काल-चक्र के अनुसार क्रमिक संबंध है। ये ताने बाने विराट की देह-संरचना के अनुरूप हैं, जिसमें दैनिक, मासिक और वार्षिक अहोरात्रियों की क्रमशः एकसूत्रता है। मनुष्य भी दैहिक-मानसिक और चैतासिक स्तरों पर कार्यशील होते हैं।

जिनकी रुचि चैतसिक वृत्ति में नहीं है, उन्हें ब्राह्मण होने में कष्ट होगा। इसी प्रकार देह प्रधान व्यक्ति को मानसिक वृत्तियों में पीड़ा होगी। प्रत्येक कार्य को पैसों में देखने की रुचि रखने वाले व्यक्ति को आर्थिक लाभ वाले कार्य ही अच्छे लगेंगे। यद्यपि सभी वृत्तियों में त्रिवर्ग है–धर्म है अर्थ और काम है। चैतसिक काल के भेद से निर्मित रुचि भिन्नता में एक ही विराट पुरुष की छटाएँ हैं।

बाह्य यज्ञ और आभ्यांतरिक ताप का अविभाज्य संबंध भारत के मनीषियों को प्रारंभ से ज्ञात था। एक समय आया जब भारी भौतिक साधनों से होने वाले यज्ञ-अनुष्ठानों के प्रति उदासीनता आई। तांड्य ब्राह्मण (२५/१८) साक्ष्य देता है कि भौतिक साधनों से होने वाला यज्ञ आत्म-यज्ञ का रूप लेने लगा, यज्ञ की धारणा सूक्ष्म हो गई। तपस्या और ज्ञान की प्रधानता बढ़ी। सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञ माना जाने लगा। जीवन-यज्ञ का ऋत्विज कोई दूसरा व्यक्ति न होकर, स्वयं मनुष्य देह की इन्द्रियाँ हो गईं। वाणी होता, चक्षु अध्वर्यु, मन ब्रह्मा, श्रोत उद्गाता और अन्य अंग चमसाध्वर्यु माने गए। दोनों नेत्रों के मध्य भाग को यज्ञ में सदस्य का स्थान पाने वाला आकाश माना गया। भौतिक साधनों से होने वाले यज्ञ में अध्वर्यु मौन रहकर अनुष्ठान का निरीक्षण करता रहता है। वह यज्ञ-वेदी की उत्तर दिशा में बैठता है। उसका मुख दक्षिण दिशा की ओर में रहता

है। ब्रह्मा यज्ञ का संचालक होता है। उद्गाता ऋचाओं का गान करता है। यज्ञ की रूपरेखा बनाना और उसे विधिवत सम्पन्न करवाना 'होता' का कार्य है। 'होता' यज्ञ वेदी की पश्चिम दिशा में बैठता है। उसका मुख पूरब दिशा रहता है। चमसाध्वर्यु सहयोगी का कार्य करता है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों को ऋत्विज के रूप में नियोजित मानकर आन्तरिक यज्ञ का विधान प्रचलित हुआ।

जैसे श्रोत यज्ञों को सम्पन्न करने के लिए एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय की एक अहोरात्रि को प्रातः माध्यन्दिन और सायं नामक तीन सवनों में विभाजित किया गया और इन सवनों का वैदिक छन्छों एवं देवताओं से संबंध निर्धारित किया गया—इसी क्रम को मनुष्य की आयु के साथ भी नियोजित माना गया। चौबीस वर्ष की वय तक प्रातः सवन, गायत्री छंद और वसु देवता, चौबीस से चौवालीस तक माध्यन्दिन सवन, त्रिष्टुप छन्द और रुद्र देवता तथा चौवालीस से अड़तालीस वर्ष के वय तक सायं सवन जागती छन्द और आदित्य देवता निर्धारित किए गए। इस निर्धारण के आधा थे— चौबीस अक्षर का गायत्री छन्द, चौवालीस अक्षर का त्रिष्टुप छंद और अड़तालीस अक्षर का जागती छन्द (छान्दोग्यो. ३/१६/१-७)।

यह आन्तरिक यज्ञ कोई अचानक हुई खोज नहीं था। कालक्रम से सम्वत्सर-यज्ञ अणु से लेकर महत् तक निरंतर हो रहा है। जो यज्ञ खगोल में चल रहा है उससे पृथ्वी और पृथ्वी वासी मनुष्य, पशु-प्राणी, वृक्ष-वनस्पति प्रभावित ही नहीं, उसी यज्ञ की अनुकृति में प्रवृत है। कण-कण और क्षण-क्षण अखंड मंडलाकार गति में सम्मिलित है। इस तथ्य की घोषणा वेद ने कर रखी है। प्रथम यज्ञ का यह संदेश है कि मनुष्य भी वही करे जो सृष्टि की देव-शक्तियाँ कर रही हैं उनके विपरीत कार्य न करे। इस धारणा का कारण यह था कि सारे पदार्थों की उत्पत्ति यज्ञ से होती है। इच्छित पदार्थों की प्राप्ति भी यज्ञ से होती है। देवों ने सुख-समृद्धि यश-प्रतिष्ठा यज्ञ से प्राप्त की, मनुष्य को भी दैवीय यज्ञ का यथाविधि अनुकरण करना चाहिए। आज भी मनुष्य अपनी इच्छा-पूर्ति का यज्ञ कर रहा है, सुख सुविधाओं के उत्पादन में व्यस्त है। लेकिन, आज वह प्रकृति के अनुसरण में नहीं है। पहले तो वह प्रकृति-विजय का स्वप्न देख रहा था, अब उसे आपदा-प्रबंधन, जीव-जगत की रक्षा, पर्यावरण की चिन्ता जैसे विषयों में उलझना पड़ रहा है। विचित्रता यह है कि देव-यज्ञ के अनुरूप मनुष्य का आचार बनाने के अथक प्रयत्न हमेशा हुए, फिर भी संयम का बाँध हमेशा टूटता ही रहा। महाभारतकार का कहना है कि 'धर्म के अनुशासन में अर्थ और काम का सेवन होना चाहिए। वह बार-बार भुजा उठाकर यह घोषणा करता है।

देव-यज्ञ के सारे उपकरण दैवी हैं। इस यज्ञ की अनुरूपता प्राप्त करने के लिए लौकिक यज्ञ के उपकरणों को भी दैव संस्कारों से परिमार्जित करना पड़ता है। संस्कार रहित उपकरणों से यज्ञ नहीं किया जाता। संस्कार से ही यजमान, पुरोहित, अग्नि इत्यादि उपकरण दैवीय गुणों से सम्पन्न होते हैं। इसके लिए उन वेद मंत्रों का उपयोग किया जाता है जिनकी ध्वनि तरंगों में घिरे हुए आकाश में देव-शक्तियाँ रहती हैं। वही शब्द रूप वेद भौतिक उपकरणों को भी देवतुल्य बना देता है। जिस यज्ञ के कार्यों में विभागानुसार अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा आदि देवता नियुक्त हैं।

जीव-जगत के निर्माण के लिए होने वाले प्राणिक यज्ञ में निरंतर सूक्ष्म देव-शक्तियों की भूमिका होती है। बाह्य यज्ञ में जैसे आहवनीय अग्नि, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य अग्नि स्थापित होती है, जो क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और पृथ्वी की अग्नियों के प्रतिनिधित्व करती है, देह-यज्ञ में भी इन तीनों अग्नियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः प्राण व्यान और अपान करते हैं। इन्हें भी द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी से सम्बद्ध समझा जाता है। जैसे मूल वाग् घनीभूत होकर सृष्टि के सूक्ष्म पंचतत्वों की रश्मियों में बदल जाता है, रश्मियाँ भी घनीभूत होकर ध्वनि हो जाती हैं। शब्द रूप ध्वनि आकाश को सृजित करती है। आकाश वायु में, वायु अग्नि में, अग्नि जल में, जल भूमि में क्रमशः मूर्त होते हैं। इसी प्रकार प्राण से पंचज्ञानेन्द्रियों की रचना होती है। प्राण का सम्बन्ध सूर्य से, व्यान का सम्बन्ध चन्द्रमा से और अपान का संबंध पृथ्वी से है। पंचतत्वों की रश्मियों की अग्नि को चित्याग्नि कहते हैं और इनसे होने वाले यज्ञ को 'पंचचितिक यज्ञ।' इन ज्योतिर्संरचनाओं को चित्र-शिशु भी कहा जाता है। यही चिति या वेदी कही जाती है।

जैसे गर्भस्थ शिशु के प्राण माता के स्वास-प्रस्वास से जुड़े रहते हैं, समष्टि प्राण सावित्री से व्यष्टि प्राण गायत्री जुड़ी रहती है। इन दोनों का आवागमन होता रहता है। इस प्रकार पृथ्वी के पांच तत्व सूर्य से प्राणवान होते रहते हैं। पांचतत्वों की रश्मि का पंच चितिक यज्ञ चंद्रमा से संबंधित है। इसकी कुल रश्मियों का योग चंद्रमा की वार्षिक गति के बराबर होता है। मनुष्य के स्वास-प्रस्वास और आयु भी इसी पर निर्भर होती है। पंच तत्वों की कुल रश्मियों का योग तीन सौ साठ होता है। इन रश्मियों को 'मयूख' कहा जाता है। इनका संबंध देह में व्यान प्राण से और ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा से है। देह निर्माण में भी याज्ञिक प्रक्रिया घटित होती है। गर्भकोश में शुक्र-शोणित से निर्मित भ्रूण प्राणों के संकुचन और प्रसारण से विभाजित एवं संवर्द्धित होता रहता है (प्राणो वै समञ्चन

प्रसारणम्–शत.ब्रा. ८/१४/१०)। प्राण का संकुचन ऋग् है और प्रसारण साम। सम्वर्द्धन की क्रिया यजुष् से होती है। भ्रूण का विकास छन्द के संख्या क्रम में होता है। एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से बारह, सोलह इत्यादि (चतुश्चत्वारिंशच्चमेष्टा चत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्–यजु. १८/२५)। यजुर्वेद (१८/६६) और ऋग्वेद (१/१६४/३६) में गर्भकोश में होने वाले आणविक यज्ञ की चर्चा हुई है। वेद ने गर्भकोश को खौलता हुआ पात्र कहा है जिसमें सोम भरा रहता है। इसमें भी होत्र कर्म चलता है। इस यज्ञ के 'होता' देव–शक्तियाँ हैं। वही प्राण का आवाहन करती हैं, हवन करती हैं जीवन–यज्ञ का संबर्द्धन करती हैं। प्राण के माध्यम से प्रवेश कर दस संख्यक पुरुष इस यज्ञ में भी कारक बनता है– (यो वै प्राणः स आयु। सोऽयं पुरुषेऽन्तः प्रविष्टो दशधा विहितः–शत.ब्रा. ५/२/३/१०) यहाँ भी वही विराट पुरुष उपस्थित है जिसकी नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक और पाँव से पृथ्वी उत्पन्न हुई। देह स्तर पर भी वह तीनों सृष्टियाँ करता है। उसके ऊर्ध्व देहांग द्युलोक, मध्य देहांग आन्तरिक्ष और अधो देहांग पृथ्वी है। यहाँ भी वह सात अग्नियों से रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र नामक सप्तधातु बनाता है। काल और यज्ञ का वही क्रम मनुष्य देह में भी चलता है।

सनातन धर्म के संस्कार, उत्सव, पर्व, व्रत इत्यादि काल और यज्ञ विधान का अनुसरण करते हैं। सृष्टि के प्रथम धर्म के अनुसरण धर्माचरण और विधि–विधान होने के कारण हमारा धर्म सनातन धर्म कहा जाता है। प्रथम धर्म के तीन स्तर अनुभव में आते हैं। पृथ्वी नाच रही है, हवा चल रही है, नदियाँ बह रही हैं, पार्थिव प्रकृति के ऊपर खगोलीय पिण्डों में निरंतर गति है। ये सृष्टि के अंग हैं। इसके बाद दूसरा जीव–जगत है और इसी में मनुष्य–जीवन का अपना संसार है। तीसरा स्तर प्राण और प्रवृत्ति है जिसके कारण मित्र–शत्रु का अनुभव होता है। धर्माचरण का तीसरा स्तर प्राण और प्रवृत्ति है जिसके कारण मित्र–शत्रु का अनुभव होता है। धर्माचरण का निर्धारण सबको मिलाकर होता है। परिवर्तन प्रकृति का स्वभाव है, लेकिन परिवर्तन का आधार भी काल और यज्ञ के क्रम में ही है। तीन त्रिकों के पूरा होने के बाद सबकी दशा बदल जाती है। नौ माह का गर्भ दसवें माह अपने नए अस्तित्व में होता है। प्रकृति चक्र में भी चलने वाले निरंतर परिवर्तन तभी दिखाई देते हैं जब वे मूर्त आकार ग्रहण करते हैं। अंधकार और प्रकाश प्रधान कृष्ण और शुक्ल पक्ष निरंतर गतिशील हैं। किन्तु, ये अमावस्या और पूर्णिमा में मूर्त हो जाते हैं। तभी इनका पूर्ण अस्तित्व सबके सामने आता है।

शाश्वत काल चक्र के साथ युग चक्र भी अपनी सीमा में निरंतर गतिशील है जो सनातन धर्म के युगीन रूपों में प्रकट होता रहता है। अनेक

भौतिक साधनों से होने वाले यज्ञ-यागों में परिवर्तन दिखाई पड़ा। वह अन्तर्भूत योग में व्यवहृत होने लगा। वही तंत्र में साधित होने लगा। वही भाव प्रधान होकर भक्ति मार्गों में आकृत हुआ। अतः धर्म प्रत्यक्ष है, परोक्ष है, शास्त्र और लोक सम्मत भी है। धर्म परंपरा और व्यवहार में है। साधना से धर्म का प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है। बिना समुचित साधना के धर्म की वास्तविकता ज्ञात नहीं होती। पुस्तकीय ज्ञान से धर्म पर व्याख्यान देना साधारण बात है। ऐसे व्यक्ति के उपदेश या प्रवचन का कोई मतलब नहीं होता जो बिना साधना के धर्म और शास्त्र बोलता है। ऐसा व्यक्ति तो कभी-कभी धर्म को भय दिखाने के लिए उपयोग भी करता है, अपने शिष्यों की संख्या बढ़ाने के लिए संगठन-प्रबंधन की विधियाँ अपनाता है। सहयोग और सहकारिता के सामूहिक आयोजन से संगठन खड़ा किया जा सकता है लेकिन, धर्म-साधना के बिना काल और सृष्टि यज्ञ के विभिन्न स्तरों तथा पूरे जीवन-चक्र को संचालित करने वाली अन्तिम सत्ता को नहीं जाना जा सकता। इसलिए सत्य-सनातन धर्म की प्रमाणिक अनुभूति हमेशा चुनौती पूर्ण रही है। इसमें शास्त्र और निर्धारित आचार को ही सर्वोपरि मान्यता नहीं मिलती, सर्वोपरि मान्यता तो सत्य का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति को मिलती है। फिर भी उसके परीक्षण के मानदण्ड शास्त्रों में पूर्वनिर्धारित हैं। शास्त्र और साधना एक दूसरे के पूरक हैं। सनातन के युगीन और व्यवहारिक पक्ष का निर्धारण साधना से उत्तीर्ण व्यक्ति ही कर पाता है। इसी सत्यनिष्ठ स्थापना के कारण समाज में धर्म की विश्वसनीयता बनी रहती है। धर्म के नाम पर झूठ-पाखण्ड भी खड़े होते और खंडित होते रहते हैं। धर्म का साधना पक्ष सर्वाधिक संवेदनशील और एकांतिक होता है।

जिस साधना से धर्म को समाज में प्रमाण मिलता हो, उसे सार्वजनिक न किया जाए, उसे शास्त्रों के गहन ज्ञान में गए बिना जाना न जा सके और पात्रता के बिना उसका परिचय प्राप्त न हो तो निश्चय ही उसके अज्ञात हो जाने का संकट बना रहेगा। साथ ही धर्म के नाम पर आडम्बर खड़ा होगा, प्रबंधन, संगठन, सहकारिता का कारोबार पनपेगा। इसलिए पारदर्शी विधि विधानों के साथ धर्म के बाह्याचारों और अन्तरंग आचारों के सभी पक्षों को सम्प्रदायों ने समायोजित किया। युगीन आवश्यकता के अनुसार साधना के रूप विकसित हुए। परन्तु इनके अनुभूत सत्य में विभिन्नता नहीं है। सर्वायुगीन धर्म युगीन परिस्थितियों में आकार ग्रहण करता रहा। विधि-निषेधों से धर्माचरण निर्धारित होता रहा।

धर्म की मूल स्थापनाओं को व्यवहारिक रूप में ग्रहण करने के लिए संप्रदायों की आवश्यकता होती है। जिसमें गुरु-आचार्य द्वारा बताए गए मंत्र और

मार्ग व्यवहार में लाए जाते हैं। वैदिक यज्ञ में जो काल विभाजन के साथ छन्द और देवताओं के भेद स्थापित हुए, उन्हीं का आधार लेकर सामूहिक संकीर्तन का भी प्रचलन हुआ। वह भी काल-छन्द का अनुसरण करने वाला वाग्-यज्ञ है। आठ पहर के रागों-रागिनियों में श्री कृष्ण की सेवा प्रचलित हुई। इस प्रकार के सम्प्रदायों में युगीन विकास के अनेक रूप दिखाई देते हैं। सामान्य जन के लिए पूजा-पद्धति आचरण और आराध्य रूपों का निर्धारण हुआ। श्रद्धा, भक्ति, प्रार्थना उसके उपकरण बने। भक्ति सम्प्रदायों के ऐसे कार्यों से वेद के ज्ञान का सर्वोपलब्ध रूप विकसित हुआ। सरल-सरस भक्ति साधनों को ग्रहण करने के लिए भाव भरे मन को ईश्वर-प्राप्ति का सबसे बड़ा उपकरण माना जाता है। एक सम्प्रदाय में भगवान राम के बाल रूप की उपासना होती है। इसके लिए एक 'उपास्य चित्र' भक्तों को दिया जाता है। इस चित्र में दसरथ के आँगन में साँवले-सलोने बालक रामचन्द्र घुटने और बाँह के बल चल रहे हैं। इनकी बाँयी हथेली धरती पर टिकी है, दाँयी हथेली ऊपर उठी हुई है। उनकी हथेली से भोज्य पदार्थ चोंच में उठाकर एक कौवा उड़ रहा है। भगवान राम हँस रहे हैं। उनकी बाँयी ओर एक लाल बंदर बैठा हुआ है। श्री राम का बाल रूप दक्षिणावर्त्त है। अनेक वर्गों में विभाजित आँगन का धरातल भगवान राम की बाल छवि का क्रीड़ा स्थल है।

इस चित्र को देखकर गोस्वामी तुलसीदास की सुप्रसिद्ध चौपाई–**मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी।।** याद आ जाती है। दसरथ के आँगन में क्रीड़ा करने वाले श्रीराम जब कृपालु होते हैं तो अमंगल का नाश हो जाता है क्योंकि वे स्वयं मंगल भवन के अधिष्ठाता हैं। चित्र में बनाया गया वर्गाकार आँगन मंगल भवन का भाग है। उड़ता हुआ कौवा काक भुसुंडी और बन्दर हनुमान हैं। इस चित्र को देखने की सामान्य दृष्टि भक्ति परक है। सहज-सरस भावपूर्ण दृष्टि से ही समाज का सरल मन इस चित्र को देखता है। उसे अपने आचार्य के तप पर पूरा विश्वास है। बहुत हुआ तो कथा-पुराण के प्रसंगों से इस चित्र की बाल छवि के विषय में चर्चा होती है और भक्त अपने सामान्य जीवन के अनुभव संसार में बसे निर्मल-निश्छल बालक के रूप से जुड़ जाता है। वह बालक को भगवान का प्रत्यक्ष रूप समझ ममता से भर जाता है। उसके मन में भविष्य के मनुष्य के प्रति मोह उत्पन्न होता है। वह प्रकृति के संसाधनों और अर्जित धन-साधन को संतान के लिए सुरक्षित रखना चाहता है, बालकों के भविष्य निर्माण के प्रति अपना दायित्व अनुभव करता है। उसकी दृष्टि में विश्व भर के बालक भगवान राम की बाल छवि होते हैं। इससे भक्त के आचरण में धर्म स्वत: प्रकट हो जाता है। वह किसी जाति या देश के भविष्य

को निगलकर राज्य स्थापित करने और उसके शोषण से समृद्ध होने की इच्छा को पाप समझता है। उसकी आस्था और उपासना विश्वहित में चरितार्थ होती है। वह अपने आराध्य के स्मरण-मनन में रहते हुए सरस भाव और उल्लास से भरा रहता है।

लेकिन जब इसी चित्र को कोई धर्म-विज्ञान से परिचित विद्वान देखता है, उसमें वेद-उपनिषद, तंत्र, योग इत्यादि शास्त्रों के सार तत्वों की सरल प्रस्तुति देखकर विस्मित हो जाता है। उसे यह प्रश्न व्याकुल कर सकता है कि इतने गंभीर और विस्तृत विषयों को इतनी सरलता के साथ एक सामान्य चित्र में कैसे रख गया! वास्तव में नाना पुराण-निगमागम से छनकर आई रामकथा ने ही संतों की तपस्या के प्रकाश में सारभूत होकर उस चित्र में आकर ग्रहण कर लिया है। यह चित्र प्रतीक की सीमा में नहीं अँटता और न रूपक के ढाँचे में। इसके भीतर समग्रता है, अखंडता है और सुविचरित व्याकरण भी। यह धर्म-तंत्र का हृदय है, एक सर्वसुलभ मंदिर है।

दसरथ प्रत्येक शरीर की दसों इन्द्रियों को संचालित करने वाला मन है और मन का आँगन है हृदय। यही मंगल भवन है—अन्तरात्मा है। वेद ने इन्द्र को मनस्वान कहा है (मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत-ऋ. २/१२/१)। मन प्राण और अपान के मध्य व्यान में स्थित होता है। व्यान हृदय में स्थित प्राण है। हृदय कोश में मन और आत्मा रहते हैं (हृदि ह्येष आत्मा-प्रश्नो. ३/८) और हृदय देह में रहने वाले प्राणों का केन्द्र। इन दोनों का संयोग चन्द्रमा से होता है। हृदय में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं और उसके आधा छत्तीस हजार आयु सूत्र। चान्द्रवर्ष के अनुसार तीन सौ साठ दिनों में प्रतिदिन एक-एक आयु-सूत्र के व्यय होने पर मनुष्य की पूर्ण आयु सौ वर्ष की मानी गयी है। सौ वर्ष जीने की वैदिक अवधारणा (जीवेम शरदः शतं) इसी विज्ञान पर आधारित हैं। इसी आधार पर जीवन को धर्माचार से व्यवस्थित करने वाले आयु विभाजन भी किये गये हैं। आयुर्वेद, योग, ज्योतिष, तंत्र आदि इस विषय की व्याख्या करते हैं।

हृदय रूपी दसरथ के आँगन की संरचना चित्याग्नि से बनी यज्ञ-वेदी है। प्राणिक रश्मियों की यह वेदी वर्गाकार है। एक वर्ग में दो त्रिकोण होते हैं। ये त्रिकोण दो प्रकार के आवेशों धन एवं ऋण के होते हैं जो एक साथ मिलकर वर्ग बनाते हैं। यह वर्ग विपरीत आवेशों के कारण वृत्ताकार गति में बदल जाता है। इसमें स्वस्तिक की दक्षिणावर्त्त गति होती रहती है। इसलिए ये बहुआयामीय हैं और अदृश्य भी। इनका अनुभव बिन्छु रूप में ही होता है। प्राणिक वेद की रचना सृष्टि के छन्छों की भाँति होती है। चार, आठ, बारह, सोलह के क्रम में इनका

विस्तार होता है। इसलिए इन्हें वर्गाकार माना जाता है और गति के कारण वृत और बिन्दु। हृदय की प्राणिक वेदी संवत्सर और यज्ञ का आणुविक रूप होती है। कबीर के शब्दों में यह 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया है। कबीर कहते हैं, "आठ हाथ की बिनी चदरिया पाँच रंग पटिया पारी। चाँद-सूरुज जामे झालर लागे जगमग जोत उजियारी। राम नाम रस बिनी चदरिया झीनी रे झीनी।" आठ पहर से काल का छन्द, पाँच रंग पटिया से पंचतत्व और चाँद-सुरुज से मन और आत्मा के झालर वाली प्राणिक वेदी की ओर इशारा किया गया है। राम अग्नि-बीज रंकार के मूर्त नाम हैं। अग्नि बीज रंकार मन की ज्योति है। यही ज्योति मन में कल्प उत्पन्न करती है। कल्प भौतिक साधनों में आकार लेकर संसार का सुख-साधन बन जाता है, पद और अर्थ बन जाता है। अग्नि बीज चल है और अचल भी। यह शंकवाकार है, बिंदु रूप में अचल और वृत्त में चल है। इसी से त्रिनाभिक काल-शाश्वत युगीन और क्षणिक-भूत, भविष्य और वर्तमान विस्तार लेता है। (नस्मिन्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचला सः। ऋ. १/६४/४८)

कबीर ज्ञानमार्गी सद्गुरु हैं। उन्होंने आख्यानिक राम के रूप को नहीं, राम के मर्म को महत्त्व दिया। जिससे सामान्य जन भी आस्था के विज्ञान तक पहुँच सके। रामकथा भी आस्था के विज्ञान की आख्यानिक और व्यवहारिक प्रस्तुती करती है। कबीर के समय की चुनौतियों को आस्था के विज्ञान से उत्तर मिल सकता था। इसीलिए उन्होंने राम के मर्म को उद्घाटित किया। सृष्टि यज्ञ की व्याख्या करने वाले ऋग्वेद के एक सूक्त में पंचतत्त्वों की रश्मियों से वस्त्र बुने जाने की चर्चा आई है (यो यज्ञो विश्वतस्तन्तु एक शतं देव कर्मेभिरायतः। इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्र वयाप वयेत्यासते तते - ऋ. १०/१३०/१)। देवताओं के यज्ञ-कर्म से पंचतत्वों की रश्मि-तन्तुएँ चारों ओर फैल रही है। ये अनंत काल तक रहने वाली है। इसे बुनते हुए पितर कहते हैं, 'ऊपर से बुनो, नीचे से बुनो।' प्रजापति ही इस वस्त्र को फैलाता और समेट लेता है। साम रूपी रश्मि-तन्तुओं से अन्तरात्मा का वस्त्र बुन गया है। प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में यह पंचचितिक यज्ञ सम्पन्न हुआ है। प्राणाग्नि की ध्वनि रंकार है। अग्नि बीज रंकार ही चेतना ही ध्वनि है। राम नाम यही रंकार है। दसरथ के आँगन में राम निरंतर खेल रहे हैं। प्रजापति ने पहली सृष्टि जिस वयांसि प्रजा के रूप में की (अस्य प्रजाः सृष्टाः पराबभूवुस्तानिमानि वयांसि।–शत.ब्रा. २.५.१.१) वह उड़नशील निकला और प्रजापति का अकेलापन दूर नहीं हुआ। शब्द ही वह वायस प्रजा था। वही आयु में विचरण करने वाली प्रथम प्रजा वायस काकभुसुंडी हैं और मरुद् रूप उनचास पवन की मूर्ति मारुति नन्दन हनुमान। चूँकि मरुद् (मर्+उत्) मृत्यु

से ऊपर उठा हुआ-रंकार में रमा हुआ प्राण है, चारों युगों में हनुमान का प्रताप विराजमान है। ये दसरथ के आँगन में यथास्थान बैठे हुए हैं।

दसरथ के आँगन अर्थात् अन्त:करण को मंगल भवन बनाने के लिए आवश्यक है कि उसमें राम के होने का पूरा भरोसा हो। इसके लिए जानना जरूरी है कि सृष्टि के प्रथम यज्ञ का विराट पुरुष हमारे अन्त:करण में उपस्थित है। वह परम पुरुष ही सर्वत्र है, उसी से यह जगत उत्पन्न हुआ है, उसी में चेष्टाएँ करता है, उसी में लय हो जाता है। अत: शांत रहकर उसे उपासना चाहिए (सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत - छान्दोग्यो.-३/१४/१)। इस संकल्प के साथ यह बात जुड़ी हुई है कि वह परम विराट अणु से भी सूक्ष्म है और विशाल से भी विशाल है। आत्मा रूप में वही हमारे हृदय-गुहा में छिपा हुआ है। जो कोई उसकी कृपा से उसे जान लेता है, सभी संतापों से मुक्ति पा लेता है (अणोरणीयान्महतो- महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तो:। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमीशम्।। श्वेताश्वतरो. ३/१४) वह परम पुरुष प्रकाश रूप में नव द्वार वाले देह रूप नगर में अन्तर्यामी होकर स्थित है। वही इस बाह्य जगत में लीला कर रहा है (श्वेताश्वत. ३/१८)। वह सृष्टि के आरंभ में वर्ण से रहित रहता है और सृष्टि प्रारंभ करके अपनी विविध शक्तियों द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है। उसके इस कार्य का कोई प्रयोजन नहीं होता। वह हम सबको शुभ बुद्धि से युक्त करे (स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु-श्वेताश्वतरो. ४/१)। अणु से महत्त तक परमात्मा की व्याप्ति है। यह अनेक रूपों में है। पर, उसका निवास स्थान हृदय कोश अनेक रूपों में नहीं है। वह वर्गाकार ही है। प्राण तंतुओं से बना हुआ उसका आँगन कृत के समान है-धूत के बिसात की तरह। यही वर्गाकार आकृति मंगल भवन है। मंगल का आकार वर्ग है। यह त्रिसप्त सूत्र से प्रसूत होता है। त्रिसप्त प्रथम धर्म को स्थापित करने वाले दस संख्यक यज्ञ पुरुष विराट की गूढ संरचना है। तीन और सात मिलकर दस होते हैं। सात से तीन घटा देने पर चार निकलता है इन दोनों को गुणा करने पर इक्कीस होता है। यज्ञ विधान में इस कूट सूत्र का अनेक रूपों में उपयोग किया जाता है। मंगल भवन के लिए त्रिसप्त सूत्र कृत की याद दिलाता है (स्त्रि:सप्त समिध: कृता - १०/९०/१५)। मंगल भवन कृत की वेदी है, सर्वतोभद्र है जिस पर परमात्मा साकार होता है। दस संख्यक विराट पुरुष से त्रिसप्त सा द्वारा सतत स्थायित्व प्रकट और क्रियात्मक होता है। पृथ्वी भी इसी स्थायित्व के सिद्धान्त पर टिकी हुई गतिशील है।

छान्दोग्योपनिषद (४/३/८) में दस के साथ कृत (चार) का गहरा विमर्श हुआ है। दस संख्यक विराट जिस अन्न के द्वारा विकास करता है, उसी अन्न

को कृत कहा गया है। कृत की व्याख्या में एक से दो, दो से तीन और तीन से चार के संख्या क्रम को बिन्दु से वर्ग के विकास तक रखा गया है और यह भी बताया गया है कि एक से चार तक की संख्याएँ जोड़ने पर दस होता है। यज्ञ के गणित और ज्यामितिक आकारों के विज्ञान को दस तक संख्याओं में इंगित किया गया है। हृदयाकाश की बुनावट यज्ञ विज्ञान का महत्वपूर्ण भाग है। वेदी का निर्माण इसी आधार पर होता है। बोधायन शुल्ब सूत्र में नाभि को चौसठ अँगुल का माप बताया गया है (नाभि षोडशमध्यमाः ।।१७।।) चौसठ एक वर्गाकार क्षेत्र है जो लम्बाई और चौड़ाई के आठ-आठ वर्गों का गुणनफल है। इस प्रकार द्विगुणित प्राण के त्रिकों से बना हुआ मनुष्य का अन्तःकरण, यज्ञ की वेदी और रश्मियों से निर्मित ब्रह्माण्ड की संरचना एक समान वर्गाकार मंगल-भवन हैं जिनमें स्वस्तिक की गति होती रहती है, गति के कारण ये वृत्त और बिन्दु में अदृश्य बने रहते हैं।

द्युलोक में स्थित आदित्य चारों दिशाओं में ऋक्-यजु-साम एवं अथर्व का अभितपन करता है और उसके केन्द्र में ब्रह्म विराजमान हैं (छान्दोग्यो. ३/१/१)। इस संरचना में पाँच आयाम हैं। वर्ग में केन्द्रीय वेग के कारण पाँच बिन्दुओं की उपस्थिति होती है। तैंतीस कोटि या तैंतीस देवता इस वर्गाकार वेदी पर निवास करते हैं। यज्ञाग्नि से यज्ञ का जहाँ तक विस्तार होता है, जहाँ तक सृष्टिकारी शक्तियाँ हैं उन्हें तैंतीस देवताओं में कार्य भेद से बाँटा गया है। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य एक प्रजापति और एक संवत्सर कुल तैंतीस देव शक्तियों के विभाग होते हैं। इनमें भी पुनः देव शक्तियों को अन्य नामों से जाना जाता है। जो विविध प्रयोजनों से संबंधित हैं। ये सभी अनेक होते हुए भी एक ही विष्णु रूप यज्ञ (यज्ञो वै विष्णुः-ताण्ड्य ब्राह्मण १३/५/५) के अंगांगी हैं। विष्णु रूप यज्ञ विश्व-भुवनों की नाभि है (यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः-अथर्व. ९/१०/१४)। चार संख्या ज्यामिति की दृष्टि से वर्गीय आकार है। इस वर्ग में एक केन्द्रीय सत्ता है। यज्ञ-वेदी की यही आकृति है। पंचतत्वों में अग्नि मध्य में है आकाश, वायु, जल और भूमि चारों चार दिशाओं में। इसी तरह मन का केन्द्र व्यान हृदय कोश में प्राण, उदान, समान, और अपान, चारों चार दिशाओं में स्थित हैं। आकाश से वायु इत्यादि तत्त्व घनीभूत हुए हैं– प्राण से उदान इत्यादि क्रमशः घनीभूत हुए हैं। ऊर्ध्व और क्षैतिज क्रमों में इस संरचना को समझा जाता है। वैदिक ऋषि को अविभाज्य देखता है, आद्योपान्त देखता है। वह सृष्टि यज्ञ को घनीभूत पदार्थों में देखता है, पदार्थों की तरल दशा में देखता है, पदार्थों के विरल आणविक दशा में घी देखता है। वह बार-बार विश्व प्रपंच के समाहारी सत्ता की स्थापना करता है। यज्ञ में, धर्म में, शरीर में, समाज में, राज्य और व्यवसाय

में-सर्वत्र एक केन्द्र है और उसके चार विभाग। वर्णाश्रम शरीर में, समाज में, राज्य और व्यवसाय में-सर्वत्र एक केन्द्र है और उसके चार विभाग। वर्णाश्रम व्यवस्था की व्यवहारिक संरचना प्रत्येक कार्य-समूह में सक्रिय है। बुद्धि, व्यवस्था, अर्थ और जन के बिना कोई संगठन नहीं चलता। संभव है, ये कार्य एक ही व्यक्ति अपने विभिन्न सहयोगियों के माध्यम से कर रहा हो, पर इन चारों की अनिवार्यता है।

भगवान राम की बाल छवि की उपासना द्युलोक में स्थित आदित्य की उपासना है, जिससे देवों को मधु रूप अमृत प्राप्त होता है (असौ वा आदित्यो देवमधु-छान्दोग्य. ३/१/१) आदित्य में ऋक् की शुक्ल ज्योति है जो दृश्यमान नहीं है। उसमें दृश्यमान ज्योति साम का नील वर्ण ही है (अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गश्चन्नीलं परः कृष्ण तत्साम..छान्दोग्यो. ३/१/१६)। मंगल भवन में भगवान राम की बाल छवि की क्रीड़ा सृष्टि के आदि और मूल में स्थित है। जिस यज्ञ रूप विष्णु से व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि है वह स्वयं भी व्यक्त और अव्यक्त है, काल और विराट पुरुष उनकी रचना है। वही बालक रूप में निष्प्रयोजन क्रीड़ा करते हैं।

ब्रह्माण्ड की वेदी पर सूर्य राम की बाल छवि है। जिनकी पूर्व दिशा में वायु, वसुप्रधान, ऋक्, दक्षिण दिशा में अग्नि, रूद्र, इन्द्रप्रधान यजु. पश्चिम दिश में जल, सोम, वरुणप्रधान साम, उत्तर दिशा में भूमि, मरुद अथर्व हैं और मध्य हृदयाकाश में भगवान राम की बाल छवि। ब्रह्मोपासना को उक्त सामान्य चित्र में प्रस्तुत करते हुए वेद-उपनिषद, पुराण और लोक चित्त को एक साथ सहेज कर रखा गया है। काक भुसुंडी प्रथम वाग् संतति हैं जो वायु की पूर्व दिशा से उड़कर हृदयाकाश स्थित ब्रह्म स्वरूप राम के हाथ से अमृत रूपी आहार ग्रहण कर रहे हैं। मरुद् रूप हनुमान भगवान राम की उत्तर दिशा में विराजमान हैं। यह वेदी स्थिर नहीं है। इस पर दक्षिणावर्त्त गति हो रही है जिससे एक वृत्तकार स्थिति बन रही है। किन्तु इसमें चार दिशाओं का निर्धारण हो रहा है। इस गति से वायु अग्नि में, अग्नि जल में, जल भूमि में क्रमशः विरल से तरल, तरल से घन (ठोस) की अवस्थाएँ उत्पादित हो रही हैं। इसीलिए सूर्य और आदित्य में भेद हो जाता है। दृश्यमान सूर्य गति में अनुभव होता है। जब आदित्य रूप सूर्य की चर्चा आती है, वह दूसरे स्तर की चर्चा होती है। ऊर्ध्व गति ही क्षैतिज गति में विरल प्रकृति से सघन प्रकृति की ओर हो रही है, ऋग् यजु. साम की ओर अग्रसर है और साम अथर्व की चेष्टाओं में इतिहास, स्मृति, आख्यान, पुराण इत्यादि बन जाता है। जो वाग् सूक्ष्म दशा में उड़नशील है, वही क्रमशः प्रातः से मध्याह्न, मध्याह्न

से सायं होता है और रात्रि के रूप में घनीभूत हो जाता है। वही वाग् काकभुसुंडी और महावीर हनुमान के रूप में घनीभूत हुआ है।

वास्तव में, पृथ्वी पर सूर्य के उदय-अस्त का जैसा अनुभव होता है आदित्य के स्तर पर वह बदल देता है। शास्त्रों में पृथ्वी की दैनिक, मासिक और वार्षिक काल चक्र से भिन्न काल चक्र का वर्णन देवताओं के प्रसंग में मिलता है। देवताओं को पृथ्वी के जीव जगत से अलग मानकर उनके लिए आदित्य के विशेष उदय-अस्त का विवरण है। उपनिषद के अनुसार यह आदित्य दक्षिण में जितने समय तक उदित होता है और दक्ष्झिण से चलकर उत्तर में अस्त होता है उससे दूने समय तक पश्चिम में उदित रहता है और पूरब में अस्त होता है। इसी विमर्श को आगे बढ़ाते हुए पुराण कहता है, अमरावतीपुरी की अपेक्षा आदित्य दूने समय तक संयमनीपुरी में रहता है। अमरावतीपुरी के निवासियों को आदित्य दक्षिण से उदित होता प्रतीत होता है। आदित्य अमरावती में वस्तुतः मध्याह्न (दोपहर) के समय दिखता है। मध्याह्न का आदित्य वरुणपुरी में उदित होता दिखता है। चूँकि इलावृत्तखण्ड चारों ओर से पर्वतरूपी परकोटों से घिरा हुआ है वहाँ का आदित्य ऊपर की ओर उदित और नीचे की ओर अस्त होता दिखाई देता है। पुराण यह भी बताता है कि इन्द्र, यम, वरूण और सोम की पुरियों में आदित्य के उदय-अस्त की अवधि समान है। क्योंकि मानसोत्तर पर्वत शिखर का सुमेर आदित्य के घूमने का मार्ग है और वह सभी स्थानों से समान दूरी पर हैं, यहाँ न आदित्य उदित होता है न अस्त। आदित्य के अस्त और उदय की इस चर्चा का प्रयोजन यही है कि आदित्य का अस्त-उदय एक सापेक्षिक घटना है। वह विभिन्न कोणों से अलग-अलग दिख सकता है। ब्रह्माण्ड को मात्र पृथ्वी से ही नहीं अन्य स्थानों से भी देखा जा सकता है। लोकों का विभाजन और देवताओं का वर्गीकरण इसी आधार पर किया गया है। ब्रह्माण्ड में दक्षिणावर्त गति है। इसकी सप्त वर्णी रश्मियों की वेदी के केन्द्र में परम प्रकाश नगीने की तरह में दक्षिणावर्त गति है। इसकी सप्त वर्णी रश्मियों की वेदी के केन्द्र में परम प्रकाश नगीने की तरह जड़ा हुआ है। वैसे ही शरी में भी मन और आत्मा हृदय कोश में दसों इन्द्रियों की बागडोर अपनी मुठ्ठी में लेकर स्थित हैं। जैसे महाभारत के युद्ध में भगवान कृष्ण और अर्जुन रथ पर सवार हैं। अर्जुन इन्द्रांश मन है जिसमें 'युद्ध करें या न करें' के संकल्प-विकल्प-आशा-निराशा चलते रहते हैं और श्रीकृष्ण आत्मा हैं जो मन रूपी अर्जुन को गीता का उपदेश देकर कर्त्तव्य परायण बनाते हैं। इन्द्रियों के रथ-दसरथ को मन और आत्मा संचालित करते हैं। इनमें मन काल है, सम्वत्सर है और आत्मा यज्ञ पुरुष विराट। मन द्विधा है, दुहरा है, मृतामृत है। यह अन्न से पोषित होता है। इसका विलय आत्मा में हो जाए तो

मोक्ष हो जाता है। यही मन ब्रह्माण्ड में चन्द्रमा है, इसमें सोलह कलाएँ हैं। मनुष्य का हँसना-रोना-गाना इसी चन्द्रमा रूपी मन से संचालित होता है। ज्योतिष बतलाता है, चन्द्रमा की स्थिति क्या है? ज्योतिषी बतलाता है, जातक की मनोदशा क्या है?

याज्ञिक धर्म व्यवस्था का समाजविज्ञान चतुवर्णी व्यवस्था है। यह मनुष्य के निजी अस्तित्व की भी व्यवस्था है। इसमें भी दक्षिणावर्त गति है पृथ्वी की भाँति। ब्राह्मण क्षत्रिय वृत्ति में, क्षत्रिय वैश्य वृत्ति में, वैश्य शूद्र वृत्ति में अपकर्षित होता है और शूद्र वैश्य वृत्ति में, वैश्य क्षत्रिय वृत्ति मं, क्षत्रिय ब्राह्मण वृत्ति में उत्कर्षित होता है। ब्राह्मण की वृत्ति आकाश वृत्ति है। वास्तविक ब्राह्मण आकाशवृत्ति में रहता है। इसी वृत्ति में धर्म है। लेकिन, आकाशवृत्ति का स्वाभाविक रूप से सामाजिक अपमान होता रहा है। पराश्रय और निर्धनता अपार कष्टदायी है। यह सच है कि आकाश में शब्द हैं। काल का दबाव भी कम है, समाज भी बहुत कम है। निष्ठा में रहने वाली भूमि यही है। कोई भी द्रष्टा आकाश में ही रहकर समाज का समुचित विश्लेषण कर सकता है। यह वृत्ति सृष्टि की शक्ति संरचना से राजन्य की शक्ति संरचना को जोड़ता और उसकी सीमाओं को विस्तार देता है। राजन्य भी इसी प्रकार वैश्य वृत्ति की शक्ति संरचना को बल देता है। इन सभी वृत्तियों से ऊपर है ब्रह्मोपासना। वहीं से अपकर्षी क्रम में वृत्तियाँ प्रारंभ होती हैं। गुरु गोरखनाथ कहते हैं, किसी की काया के भीतर युद्ध चल रहा है, किसी के भीतर हाट-बाजार लगा है—सौदेबाजी चल रही है। यदि इनकी काया के भीतर गोरख का संदेश मुखर हो जाए तो इनका जीवन आनन्द से भर सकता है ये अजर-अमर हो सकते हैं—"आन की काया में जदि गोरख बोले, अजरो दिन आनंदरो।' देह के भीतर का वृत्ति-भेद सामाजिक चरित्र में प्रकट होता है। एक स्वभाव के लोग आपस में सम्बन्धित हो जाते हैं। भौतिक समृद्धि की दृष्टि से देखें—सामाजिक सघनता ओर संख्या की दृष्टि से देखें तो किसी समाज में सबसे कम ब्राह्मण के होने की संभावना बनती है। इसीलिए इसकी रक्षा की जाती थी। देह स्तर पर भी शेष वर्ण-वृत्तियों में रहने की तुलना में धर्म वृत्ति में रहना सबसे कठिन है। अपनी अन्य वृत्तियों में प्रत्येक व्यक्ति रहता है, परन्तु उनके स्तर और माप में अन्तर होता है। देखना यह आवश्यक है कि किसी वर्णवृत्ति कैसी है? वह अपकर्षी क्रम में है अथवा उत्कर्षी क्रम में? ब्राह्मण की धर्म वार्त्ता सुनाकर समाज-मानस को प्रभावित करने और उत्पादित प्रभाव तथा विश्वास को वैश्य कौशल से दूह लेने का काम धर्म नहीं, व्यवसाय है। इसीलिए धर्म के प्रति यह गलत धारणा फैल गई है कि निर्धन और पराश्रित लोग ही ईश्वर के प्रति भावुक होते हैं। उनकी भावुक आस्था का दोहन करके राज और व्यवसाय की सत्ता बनाई

जा सकती है। धर्म की मूलभूत दशा को आर्थिक संसार से जोड़कर देखने वाली यह वृत्ति अपकर्षी है। इसमें भौतिक समृद्धि बढ़ सकती है। परन्तु, आत्मभावों का सर्वनाश हो जाता है। भौतिक समृद्धि के लिए चारित्रिक पतन की ओर अग्रसर हुए लोगों की दशा का गहरा विश्लेषण करके इस सत्य का प्रमाण पाया जा सकता है। अत: वर्ण वृत्तियों का उत्कर्षी क्रम में व्यवहार करना श्रेयस्कर है। किन्तु अपकर्षी और उत्कर्षी क्रमों का समायोजित रूप ही मंगल है। मंगल विद्या और विधि का मूलाधार है। वह विनायक है।

अपान और उदान प्राणों के समायोजन से निर्मित व्यान पूरित हृदय भाग मंगल भवन है। विद्या और अविद्या को उभय रूप से बरतने का संदेश उपनिषद से प्राप्त होता है। विद्या से अमृत की प्राप्ति करनी है और अविद्या से अन्न की प्राप्ति, ताकि अकाल मृत्यु न हो। इस प्रकार चारों ही वर्णों में आर्थिक वृत्तियों द्वारा भौतिक आधार ग्रहण करने की व्यवस्था निर्धारित की गई है।

वर्ण वृत्तियों के अपकर्षी क्रम में भौतिक शक्ति अधिक है और उत्कर्षी क्रम में आध्यात्मिक शक्ति अधिक। भौतिक पदार्थों का सापेक्ष अध्ययन करते हुए सी.बी. रमण ने पाया कि नीली किरणें अधिक शक्तिशाली हैं। नीली किरणें पार्थिव हैं। पार्थिव सम्पदा वर्ण वृत्तियों के अपकर्षी क्रम में प्राप्त होती हैं। लेकिन, उत्कर्ष के बिना अपकर्ष संभव नहीं है। अपकर्षित चेतना जब तक तप से उत्कर्षित नहीं होती, उसका व्याप नहीं बढ़ता। उसके ह्रास से भौतिक सम्पदा का अर्जन नहीं हो सकता। प्रकृति का स्वभाव अपकर्षी है। अत: उत्कर्ष के श्रेय मार्ग पर अधिक बल दिया जाता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद गार्हस्थ्य आश्रम को और धर्म के बाद अर्थ को स्थान देने के पीछे यही कारण है। प्रकृति में होने वाली सतत योग क्रिया में भी यही उत्कर्ष-अपकर्ष घटित होते हैं।

वसंत ऋतु के समान ही मनुष्य की किशोर-अवस्था होती है। वसंत ग्रीष्म ऋतु में तपता है। यह पावस बनता है। पावस ऋतु में वर्षा होती है—धरती हरी-भरी हो जाती है। वसंत रूपी किशोर अवस्था को ब्रह्मचर्य आश्रम में तपने के लिए रखा जाता है। इसके बाद उसे गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश दिया जाता है। वर्तमान समय के दबाव में अपरिपक्व मन और देह के किशोरों को शिकार बनाना व्यवसायिक सफलता का सूत्र बन गया है। चाहे वह मनोरंजन उद्योग हो या फैशन और चलताऊ खाद्य सामग्रियों का धंधा, किशोर वय के उपभोक्ताओं पर इनकी कुदृष्टि अधिक केन्द्रित है। इससे समाज निर्जीव और निष्प्राण होता जा रहा है।

प्रत्येक प्राणी सृष्टि यज्ञ से उत्पन्न होने के कारण प्राणिक स्तर पर उनीत होता है, विशेष रूप से मनुष्य के प्राणों की बुनावट समरूप होती है फिर भी इन्द्रियों की तृष्णा में प्राण व्यय होते हैं। इसकी बुनावट विषम होती और बिखरती है। अतः जीवन को यज्ञमय बनाने के लिए यज्ञोपवीत संस्कार किया जाता है। इसे उपनयन संस्कार भी कहते हैं। उपनयन संस्कार से ऐसी दृष्टि विकसित करने का यत्न किया जाता है जिससे ऋषियों द्वारा देखे गए सत्यों को पुनः देखा जा सके। सामान्य दृष्टि से संसार का बाहरी रूप ही देखा जा सकता है। विशेष दृष्टि से इसकी अन्तर्संरचनाएँ देखी जा सकती हैं। बहुधा संसार के वर्तमान घटना-चक्र, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान को अभ्यास के द्वारा जाना जाता है। परंतु सूचनाएँ, जानकारियाँ एकत्र करने से सब कुछ हासिल नहीं हो सकता। विश्लेषण की क्षमता के अभाव में इनसे मानसिक बोझ बढ़ता है। मानसिक बोझ से मुक्ति के लिए विवेक आवश्यक हो जाता है। विवेक की प्राप्ति के लिए उपनयन संस्कार किया जाता है। इस संस्कार से मंत्र-छंदित मानस विकसित होता है। ऐसा मस्तिष्क सृष्टि की भीतरी परतों में उतर सकता है। इस संस्कार से युक्त व्यक्ति को द्विज कहा जाता है।

जन्म से सभी शूद्र होते हैं। संस्कार से द्विजत्व मिलता है (जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते- अत्रि सं. १४२)। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में कहा गया है कि माता-पिता से केवल शरीर का जन्म होता है। आचार्य अपनी विद्या से ब्रह्मचारी को श्रेष्ठ जन्म प्रदान करता है (स हि विद्यांत जनयति तदस्य श्रेष्ठं जन्म। माता पितरौ तु शरीरमेव जनयतः)। इस संस्कार के अन्तर्गत इन्द्रियों को संयमित रखते हुए तपस्वी की भाँति किशोर से युवा होने तक ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन आदि किया जाता है। तप से ब्रह्मचारी को तीन प्रकार की दीप्ति मिलती हैं। इन्हें ओज, तेज, और वर्चस कहते हैं। वेद का आदेश है कि इन्हें धारण कर समस्त विश्व को आलोकित करो (अभि द्विजन्मा त्री रोचनानि विश्वा रजांसि शुशुचानो अस्थात्-ऋ. १/१४९/४)। द्विजत्व की अवधारणा पृथ्वी की दो गतियों पर आधारित है। अपनी पहली गति से पृथ्वी दिनरात का सामान्य जीवन चक्र पूरा करती है। पशु-प्राणी इस चक्र के अधीन सोते-जागते हैं। चौबीस घंटे की यह गति दैहिक जरूरतों के लिए है। पृथ्वी इस गति से शून्य में टिकती है। यह उसके निजत्व की गति है। पृथ्वी की दूसरी गति विश्वात्मा सूर्य के चारों आरे परिभ्रमण की ळै। इस समष्टि गति से उसे द्विजत्व मिलता है। वार्षिक चक्र के कारण वह सृष्टिवती है। इसी गति से पृथ्वी को छह ऋतुओं के यज्ञ में सम्मिलित होने का अवसर मिलता है। इसी गति से वह सविता को आकर्षित कर पाती है, उसे गायत्री के चौबीस घंटों के छन्द में बाँध पाती है, सूर्य की शक्ति को प्राप्त कर

सजीव और सृजनशील होती है। निजत्व और द्विजत्व की गतियाँ क्रमशः व्यष्टि और समष्टि की गतियाँ है। द्विज एक समाजोन्मुख चरित्र है। जो सिर्फ देह की जरूरतों के लिए नहीं जीता, केवल अपने और अपनों को भरापूरा करने के लिए नहीं जीता, वह सबके लिए जीता है। द्विज की पूरी अवधारणा जातियों के रूप में जड़ीभूत होकर विकृत हो गयी हैं। परिणाम यह है कि आज भी सामाजिक साधनों को सर्वहित में सुनियोजित करने की कसमें खाते हुए उभरने वाला नेतृत्व छलावा बनकर रह जाता है। सर्वाधिक सुख साधन का भोग करने के बाद भी वह द्विज का कृतित्व नहीं, घोटाला चरितार्थ करता है।

समाज की जड़ता है कलियुग। कलियुग सोया रहता है, वह सोया हुआ है। द्वापर वह है जो जागकर बैठ जाता है, त्रेता वह है जो उठकर खड़ा हो जाता है, सत्य युग वह है जो चलता ही रहता है (कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उतिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरश्चरैवेति! चरैवतेति!! ऐ.ब्रा. ३३.३.४) चलते रहने के संदेश में व्यापक विश्व से जुड़ने का उद्देश्य छिपा हुआ है। वेद चलते रहो! चलते रहो! का संदेश देता है बहिर्योग और अन्तर्योग का संदेश। इसलिए कि जीवन-यज्ञ अखंड है, अविराम है। इसमें कोई जड़ता अवरोध बनकर अधिक दिनों रह ही नहीं सकती, कोई मिथ्याचार समाज जीवन के प्रवाह को रोक नहीं सकता। अविराम गति के सत्य को सनातन धर्म ने स्वीकार करते हुए स्थिति के ऋत् को भी पहचाना जिसे नियम के रूप में सृष्टि सतत अनुसरित कर रही है और इन्हीं सत्य और ऋत् को जीवन का आधार बनाया।